जैन कर्म-सिद्धान्त : तुलनात्मक विवेचन

डा. राममूर्ति त्रिपाठी

हिन्दू संस्कृति का प्रत्यभिज्ञापक प्रतिमान है– पुनर्जन्मवाद में आस्था । पुनर्जन्म का मूल है–कर्मवाद । हिन्दू संस्कृति के अन्तर्गत परिगणित होने वाली तीनों धारायें–ब्राह्मण (शैव, शाक्त तथा वैष्णवादि), जन और बौद्ध कर्मवाद में आस्था रखती है । ब्राह्मण अथवा वैदिक धर्म के अन्तर्गत परिगणित होने वाला मीमांसा दर्शन तो (कर्म) ही को सब कुछ मानता है–'कर्मात् मीमांसकाः' । बौद्ध सृष्टि गत समस्त वैचित्र्य का मूल कर्म को स्वीकार करते हैं और जैन कर्म तथा जीवात्मा का अनादि संबंध स्वीकार करते हैं । तीनों ही धाराओं में सृष्टि का मूल "कर्म" मानने वाले उपलब्ध हैं–मानवेतर किसी सर्वोपरि सत्ता (ईश्वर) को अस्वीकार करते हैं । तीनों अनादि वासना, कषाय और तण्हा को कर्म-बंध का मूल मानते हैं । तीनों ही इनका समुच्छेद स्वीकार करते हैं । इन तमाम समानताओं के बावजूद (कर्म) के स्वरूप के संबंध में जैन दर्शन की धारणा सर्वथा भिन्न है ।

जैनेतर दर्शनों में वैशेषिक दर्शन (कर्म) को एक स्वतन्त्र पदार्थ मानता है । उनकी दृष्टि में कर्म वह है जो द्रव्य समवेत हो, जिसमें स्वयम् कोई गुण न हों, और जो संयोग तथा विभाग में कारणान्तर की अपेक्षा न रखता हो । गुण की तरह यहां कर्म भी द्रव्याश्रित धर्म विशेष है । गुण द्रव्यगत सिद्ध धर्म का नाम है, जबकि क्रिया (साध्य) है । कर्म मूर्त द्रव्यों में ही रहता है और मूर्त द्रव्य वे होते हैं जो अल्प परिमाण वाले होते हैं । वैशेषिकों के यहां आकाश, काल, दिक् तथा आत्मा विभु या व्यापक हैं––अतः इनमें कर्म नहीं होता । पृथिवी, जल, वायु, तेज तथा मन इन्हीं मूर्त पांच द्रव्यों में कर्म की वृत्ति रहती है । यह कर्म पांच प्रकार का है– उत्क्षेपण, अपक्षेपण, आकुंचन, प्रसारण तथा गमन । अन्य सर्व विध क्रियाओं का अन्तर्भाव (गमन) में ही हो जाता है, यहां कभी-कभी क्रिया और कर्म पर्याय रूप में भी समझे जाते हैं, कभी-कभी क्रिया के द्वारा प्राप्य कर्म कहा जाता है । पाणिनि ने कर्म, जो कर्ता की क्रिया से ईप्सिततम रूप में प्राप्त होता है–उसे कहा है । विवेकशील मानव के सन्दर्भ में मीमांसा दर्शन ने कर्म के नित्य, नैमित्तिक, काम्य निषेध्य रूपों पर पर्याप्त विचार किया है । मानव के ही सन्दर्भ में प्रारब्ध संचित और क्रियमाण कर्मचक्र का विचार उपलब्ध होता है । गीता में कर्म शब्द का विशिष्ट और सामान्य, सन्दर्भ-सापेक्ष तथा सन्दर्भ-निरपेक्ष अनेक रूपों में प्रयोग मिलता है । शांकर अद्वैत वेदान्त की दृष्टि से गीताकार के "भूतभावोद्भवकरः विसर्गः कर्मसंज्ञितः" व्याख्या करते हुए लोकमान्य ने जो कुछ कहा है– उसका आशय यह है कि निःस्पंदब्रह्म में मायोपाधिक आद्यस्पंद या हलचल ही कर्म है । इस प्रकार सारी सृष्टि ही गत्यात्मक होने से क्रियात्मक या कर्मात्मक है । स्थिति तो केवल ब्रह्म है । स्थिति के वक्ष पर ही "गति" है–हलचल है, बनना-बिगड़ना है, संसार है । वैशेषिक दर्शन का कर्म भी यही है– वैसे उसे माया अथवा मायोधिक स्पंद का पता नहीं है । जैन दर्शन भी जब कायवाङ्मनः 'कर्म' को 'योग' कहता है, तब वह काया वाक् तथा मनः प्रदेश में होने वाले आत्म परिस्पंद को ही क्रिया या योग कहता है । यहां योग, क्रिया तथा कर्म को सामान्यतः पर्याय रूप में ही लिया गया है— वैसे अन्यत्र "कर्म" का स्वरूप सर्वथा भिन्न रूप में कहा गया है ।

जैन दर्शन में "कर्म" के स्वरूप पर विचार करते हुए यह माना गया है कि कर्म और जीवात्मा का अनादि संबंध है । कर्म के ही कारण जीव एक साथ होता है । कर्मों के ही कारण जीव में कषाय आता है और कषाय के ही कारण कर्म के योग्य पुद्गलों का आत्मा में उपश्लेष होता है । इस प्रकार 'कर्म' पौद्गलिक मूर्त तथा द्रव्यात्मक है– भौतिक है–वह आयतन घेरता है । जैनाचार्यों की धारणा है कि जिस प्रकार पात्र विशेष में फल-फूल तथा पत्रादि का मदिरात्मक परिणाम विशेष होता है, उसी

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रकार आत्मा में एकत्र योग, कषाय तथा योग्य पुद्गलों का भी जो परिणाम होता है, वही 'कर्म' है । कषायवश काय, वाक्, मनःप्रदेश में आत्म परिस्पन्द होना है और इसी परिस्पन्दवश योग्य पुद्गल खिंच आते हैं । इस प्रकार कर्म से आत्मा का बंध या संबंध होता है और संबंध होने से विकृति या गुण-प्रच्युति होती है । प्रवचनसार के टीकाकार अमृतचन्द्र सूरि का कहना है आत्मा द्वारा प्राप्य होने से क्रिया को कर्म कहते हैं । उस क्रिया के निमित्त से परिणाम विशेष को प्राप्त होने वाले पुद्गल को कर्म कहा जाता है । जिन भावों के द्वारा पुद्गल आकृष्ट होकर जीव से संबद्ध होते हैं, वे भाव कर्म कहलाते हैं और आत्मा में विकृति उत्पन्न करने वाले पुद्गल पिण्ड को द्रव्य कर्म कहा जाता है। पंचाध्यायी में तो यह भी बताया गया है कि आत्मा में एक वैभाविक शक्ति है जो पुद्गलपुञ्ज के निमित्त को पा आत्मा में विकृति उत्पन्न करती है । यह विकृति कर्म और आत्मा के संबंध से उत्पन्न होने वाली एक अन्य ही आगन्तुक अवस्था है । इस प्रकार आत्मा शरीररूपी कांवर में कर्मरूपी भार का निरन्तर वहन करता रहता है । इसी से राहत पाना है—आत्मा को निरवृत्त करना है ।

आत्मा से कर्म का संबंध ही "बन्ध" का कारण बनता है । यह कर्म या तन्मलक बंध चार प्रकार का होता है—प्रकृति स्थिति, अनुभव या अनुभाग और प्रदेश । कर्म या बंध का स्वभाव ही है— आत्मा की स्वभावगत विशेषताओं का आवरण करना । स्थिति का अर्थ है—अपने स्वभाव से अच्युति । स्वभाव का तारतम्य अनुभव है और "इयत्ता" प्रदेश। स्वभाव की दृष्टि से कर्म आठ प्रकार के कहे गए हैं— ज्ञानावरण, दर्शनावरण, वेदनीय, मोहनीय, आयु, नाम, गोत्र तथा अन्तराय । इनमें से ज्ञानावरण, दर्शनावरण, मोहनीय तथा अन्तराय को घातिया कर्म कहते हैं । क्योंकि ये आत्म गुण-ज्ञान, दर्शनादि का घात करते हैं। अवशिष्ट चार अघातिया हैं । जीवन्मुक्त के शरीर से ये संबद्ध रह कर भी उसके आत्मगत गुणों का घात नहीं करते । हां, विदेह मुक्त सिद्ध में अघातिया कर्मों की भी स्थिति नहीं रहती । जैन कर्म सिद्धांत में इन कर्म भेदों का बड़े विस्तार से वर्णन मिलता है । केवल कर्म प्रकृति के ही १५८ भेद हैं । सामान्यतः ज्ञानावरण के पांच, दर्शनावरण के नव, वेदनीय के दो, मोहनीय के अट्ठाईस, आयु के चार, नाम के बयालीस, गोत्र के दो तथा अन्तराय के चार भेद हैं। फिर इनके अवान्तर भेद हैं।

इस कर्म बंध का जिस प्रकार ब्राह्मण दर्शन या बौद्ध दर्शन में चक्र मिलता है, वह कर्म चक्र यहां भी आचार्यों ने निरूपित किया है । ब्राह्मण दर्शन में माना गया है कि किया गया कर्म अपने सूक्ष्म रूप में जो संस्कार (अदृष्ट या अपूर्व) छोड़ते हैं— वे संचित होते जाते हैं । इस संचित भंडार का जो अंश फलदान के लिए उन्मुख हो जाता है, वह "आरब्ध" या "प्रारब्ध" कहा जाता है और जो तदर्थ उन्मुख नहीं है—वह "अनारब्ध" या "संचित" कहा जाता है । किया जा रहा कर्म "क्रियमाण" है । इस प्रकार "क्रियमाण" से "संचित" और "संचित" से "प्रारब्ध" और फिर "प्रारब्ध" योग के रूप में "क्रियमाण" कर्म और फिर इससे आगे-आगे का चक्र चलता रहता है । बौद्ध दर्शन में उसे "अविज्ञप्ति कर्म" कहते हैं, जिसे ऊपर वैशेषिक दर्शन के अनुसार "अदृष्ट" तथा मीमांसा दर्शन के अनुसार "अपूर्व" कहा गया है । सांख्य कर्म-जन्य सूक्ष्म बात को संस्कार नाम से जानता है । "अविज्ञप्ति कर्म" का ही स्थूल रूप "विज्ञप्ति कर्म" है । वस्तुतः बौद्ध दर्शन में "धर्म" चित्त और चेतसिक सूक्ष्म तत्व हैं जिनके घात प्रतिघात से समस्त जगत् उत्पन्न होता है । एक अन्य दृष्टि से इन्हें "संस्कृत" और "असंस्कृत"—दो भेदों में विभक्त किया जाता है । इन्हें "सास्रव" और "अनास्रव" नाम से भी जाना जाता है । संस्कृत धर्म हेतु—प्रत्यय—जन्य होते हैं, इसके भी चार भेदों में से एक है— रूप । रूप के ग्यारह भेद हैं— पांच इन्द्रिय और पांच विषय तथा एक अविज्ञप्ति । चेतनाजन्य जिन कर्मों का फल सद्यः प्रकट होता है उन्हें "विज्ञप्ति" कर्म कहते हैं और जिनका कालान्तर में प्रकट होता है—उन्हें "अविज्ञप्ति" कहते हैं। इन्हें "संचित" "प्रारब्ध" के समानान्तर रख कर परख सकते हैं। सामान्यतः यह विवेचन वैभाषिक बौद्धों के अनुसार है।

महर्षि कुंदकुंद ने पंचास्तिकाय में जैन चिन्ताधारा के अनुरूप कर्मचक्र को स्पष्ट किया है । मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग— सभी बंध के कारण हैं । यह तो माना ही गया है कि जीव और कर्म का अनादि संबंध है । अर्थात् जीव अनादि काल से संसारी है और जो संसारी है, वह राग, द्वेष आदि भावों को पैदा करता है, जिनके कारण कर्म आते हैं । कर्म से जन्म लेना पड़ता है, जन्म लेने वाले को शरीर ग्रहण करना पड़ता हैं । शरीर में इन्द्रियां होती हैं । इन्द्रियों द्वारा विषयों का ग्रहण होता हैं और विषयों के कारण राग-द्वेष होते हैं और फिर राग-द्वेष से पौद्गलिक कर्मों का आकर्षण होता हैं । इस प्रकार यह चक्र चलता ही रहता है ।

इस कर्म चक्र से मुक्ति पाने के लिए तीनों ही धाराएं यत्नशील हैं । तदर्थ कहीं शील, समाधि और प्रज्ञा का विधान है और कहीं सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान तथा सम्यक् चारित्र तथा कहीं श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन का उपदेश है । कहीं परमेश्वर अनुग्रह या शक्तिपात, दीक्षा तथा उपाय का निर्देश है । इस प्रकार विभिन्न मार्गों से हिन्दू संस्कृति की विभिन्न धाराओं में "कर्मचक्र" से मुक्ति पाने और स्वरूपोपलब्धि तक पहुंचने का क्रम निर्दिष्ट हुआ है । जैन दर्शन सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन तथा सम्यक् चारित्र को सम्मिलित रूप से मोक्षमार्ग मानता है । □

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org